टी वी टाइम्स
सुधीश पचौरी

टीवी टाइम्स

सुधीश पचौरी

सुधीश पचौरी

जन्म : 29 दिसंबर 1948

जनपद : अलीगढ़

शिक्षा : एम. ए. (हिंदी) (आगरा विश्वविद्यालय) एम. लिट्., पीएच.डी. एवं पोस्ट डॉक्टोरल शोध, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

संप्रति : जाकिर हुसैन पोस्टग्रेजुएट कॉलेज (सांध्य) दिल्ली हिंदी विभाग में रीडर।

चर्चित पुस्तकें : नई कविता का वैचारिक आधार, कविता का अंत, दूरदर्शन: स्वायत्तता और स्वतंत्रता (सं.), उत्तर-आधुनिक परिदृश्य, उत्तर आधुनिकता और उत्तर संरचनावाद, नवसाम्राज्यवाद और संस्कृति, दूरदर्शन दशा और दिशा, नामवर के विमर्श (सं.), दूरदर्शन विकास से बाजार तक, उत्तर केदार (सं.), सीमांतों के अंवेषक श्यामाचरण दुबे (सह.सं.), उत्तर आधुनिक साहित्यिक-विमर्श, मीडिया और साहित्य, देरिदा का विखंडन और साहित्य, साहित्य का उत्तरकांड, आफ्टर द ब्रेक, प्रसार भारती और प्रसारण नीति।

मार्क्सवादी समीक्षक, प्रख्यात स्तंभकार, मीडिया विशेषज्ञ, भारतेंदु हरिश्चंद्र पुरस्कार से सम्मानित।

टीवी टाइम्स

आब्जर्वर के टीवी-समीक्षक क्लाइव जेम्स ने 'व्हाट इज ए टेलीविजन क्रिटिक' नामक टिप्पणी में एक जगह लिखा है : 'टेलीविजन समीक्षा की खास बात यह है कि वह अतीत को संदर्भित नहीं कर सकती। वह समीक्षा जो इस माध्यम की बहुस्तरीयता, बहुलार्थता और क्षणभंगुरता को नहीं समझती, एक झूठी समीक्षा ही है.....टेलीविजन एक ही क्षण में, एक खिड़की में हजारों चीजों के घटने का नाम है। ऐसी उपद्रवकारी स्थिति के समीक्षक को क्या कहा जाए कहना कठिन है। इतना ही काफी है कि वह भक्त या संत नहीं ही हो सकता।

तो हे पाठकर्त्ता! टीवी को देखते हुए जो देखी सुनी लिखी वह भक्ति-मार्गी या संतमार्गी विमर्श नहीं ही है क्योंकि वह वैसा हो ही नहीं सकता था। यही देखी सुनी का चस्का भी था और है, यही उसका जोखिम था और है।

टीवी समीक्षा में जोखिम भी हो सकते हैं। यों बड़े भारी जोखिम अभी तो दिखे नहीं लेकिन इस कर्म के जोखिम मजेदार हैं।

-इसी पुस्तक की भूमिका से

(पृष्ठ 17-18)

देखी-सुनी

के

पाठकों के लिए

टीवी समय

टेलीविजन की दुनिया, जिसकी समीक्षा की जाती है, एक 'वास्तविक दुनिया है', और 'नहीं भी है''..... उत्तर-आधुनिक पाठांतर में टेलीविजन-समीक्षा इस सचाई की अनेकार्थतओं और अंतर्विरोधों में पलती है।

-जेम्स हे

'क्वश्चन रादर दैन आंसर्स'

(चैनल्स ऑफ डिस्कोर्स)

किस कमबख्त ने चाहा था कि टीवी देखे? लेकिन देखना पड़ा और फिर उस पर लगातार लिखना पड़ा।

बारह साल पहले जब टीवी को देखना शुरू किया तो न तो वह वैसा था जैसा आज है, न हम उसे उस तरह देखते थे जिस तरह इन दिनों देखते हैं, और न वह हमें उस तरह देखता था जिस तरह इन दिनों देखता है। टीवी ने न केवल खुद को बदला बल्कि अपने समाज और अपने समय को निर्णायक ढंग से बदल दिया और बदलेगा।

हम एक टीवी-समय में भी रहते हैं। अब यह एक स्वीकृत तथ्य है। वह एक विराट् 'पाटा' है जो सब को हमवार करता जाता है। ज्यों-ज्यों हमवार करता जाता है, त्यों-त्यों प्राय: स्थिर या धीरे-धीरे बदलने वाले एशियाई समाजों के सिरमौर भारतीय समाज की नसें तड़कती जाती हैं, दर्द-छटपटाहट बढ़ती जाती है, चीत्कार-फूत्कार बढ़ता जाता है; और जितना बढ़ता जाता है, टीवी का दबदबा उतना-उतना स्वीकृत होता जाता है। तमाम चीत्कार उसके होने का स्वीकार हैं। यही 'टीवी समय' है। टीवी टाइम्स। सिर्फ मुहावरा नहीं। एक निर्णायक सांस्कृतिक वातावरण की तरह वह अब हमारे भीतर रहता है। घर में, ड्राइंगरूम में, हमारी कामना में, हमारे अस्ति-नास्ति के प्रश्नों में वह दैनिक उपभोग की तरह रहता है। उसने संस्कृति के 'पैराडाइम' बदल दिए हैं।

एक माध्यम के रूप में टीवी शायद सबसे 'भोला' माध्यम है, लेकिन प्रभावक के रूप में वह पिछले समूचे माध्यमों को उदरस्थ करने वाला और बदलने वाला ऐसा माध्यम है जिस पर टनों शोध और दर्शन हुआ है, हो रहा है क्योंकि वह स्वयं लगातार 'होता रहता' है।

छवियाँ जो खो जाती हैं, समाज में चुपके-से पसर जाती हैं। संदर्भों को क्षणिक बनाकर भागती हुई टीवी-छवियों का अनिवर्चनीय असर रहता है और इस तरह 'देखने' का ढंग इतना बदल जाता है कि हम जीवन के शब्दार्थ को ठीक उसी तरह नहीं पढ़ पाते जिस तरह टीवी-पूर्व के दिनों में पढ़ा करते थे, क्योंकि हर क्षण, वह एक अदृश्य (और दृश्य) वातावरण की तरह जीवन के 'मानी' बदलता चलता है। बौद्रीआ और उंबर्तो इसे 'हाइपर रीयल' कहते हैं। ऐसा 'रीयल' जो 'निर्मित' है और इतना तेज, इतना अस्थिर, इतना चमकदार, इतना आकर्षक और अनिवार्य है। 'शब्दार्थ' की जगह वह चिह्नों और 'बाइट्स' में काम करता है। मैक्लूहान के लिए इसीलिए वह ऐसा माध्यम है जो स्वयं 'संदेश' भी है।

पश्चिम में टीवी को शुरू में उसी तरह देखा गया जैसा कि अपने यहाँ देखा था, यानी पहले उसे 'बुराई' माना गया, फिर 'अनिवार्य बुराई' माना गया और फिर 'अनिवार्य बुराई-अच्छाई' माना गया। हिडिन पर्सुएडर्स के वांस पैकार्ड उसे दिमाग बदलने वाला, फुसलाने वाला मानते हैं, शिलर उसे खतरनाक मानते हैं। लेकिन जान फिस्के, जिम कोलिन्स उसे डाइलैक्टिकिली देखते हैं; मार्क पोस्टर, फ्रेडरिक जेमेसन, उंबर्तो, बौद्रीआ उसे एक जटिल संरचना मानते हैं जो न्यूनतम सरलीकरणों से 'डिफाइन' नहीं होती।

टीवी-शोध और सिद्धांतिकी पश्चिम में खूब विकसित है क्योंकि इतिहास में यह लेट-कैपीटलिज्म का ही माध्यम है, उसी की जरूरतों से उत्पन्न हुआ, उसे सस्टेन करने वाला, उसीका शिशु जिस कैपीटलिज्म की ओर उत्तर-मार्क्सवादी चिंतक अल्थुर्स ने इशारे किए और जिस पर अर्नेस्ट मैंडेल ने तो 'लेट कैपीटलिज्म' पूरी किताब ही लिख दी। सोवियत-पराभव का इतिहास जब कभी लिखा जाएगा, जब भी भूमंडलीकरण का आकलन किया जाएगा और जब भी समाजों की तेज रद्दोबदल का नक्शा बनाया जाएगा, तब जो एक बड़ा कारक अनिवार्य उपलब्ध होगा वह टीवी ही होगा। टीवी एक ग्लोबल समय बनाता है, ग्लोबल देश बनाता है। और यह विचित्र है कि वह ग्लोबल बनाते ही 'स्थानीय' को भी खोल देता है। वह ऐसे अनंत 'अन्य' बनाता है कि 'आत्म' की सुधि बार-बार आती है।

भोला दिखते हुए भी वह इतना दुर्निवार, जबर्दस्त और जालिम माध्यम (सत्ता) है जो हर पुरानी सिद्धांतिकी (थियरी) को व्यर्थ करता है। टिकाऊ थियरी से परे वह क्षणिक विमर्श बनाता है, एकांत नष्ट करके अनेकांत बनाता

है और कामना की सिद्धांतिकी को खोलता है। सदियों के अनुशासनों को वह व्यर्थ करता है दिमागों पर सीधे शासन करता है। पुराने जकड़े समाज टूट जाते हैं भय बढ़ते हैं, और उसके नए जगत में लोग डरते हैं। साहित्य और संस्कृति पर चलनेवाली अनंत बहसों में हम टीवी की जबर्दस्त उपस्थिति देख सकते हैं।

लेकिन तब ऐसा नहीं था। हम लकड़ी के जिस डिब्बे के काले-सफेद चलितचित्रों को देखते थे वे बेहद शरीफ, मर्यादावाले और सुरक्षा प्रदान करनेवाले दिखते थे। बयासी से पहले रंगीन टीवी-प्रसारण नहीं था। बयासी में एशियाड के साथ टीवी रंगीन हुआ तो छवियों का आकर्षण बढ़ा और टीवी समय बढ़ा। लेकिन तब भी वह वैसा नहीं था जैसा कि आज है। तब तक वह 'सज्जनों' का माध्यम था। चित्रहार, रविवार की फिल्म और प्रतिमा पुरी द्वारा पढ़ी जानेवाली खबरें देख-सुन लीं और बस। वह अनिवार्य नहीं था, वह हमारा विमर्श नहीं था, न हमारे विमर्श के भीतर था। वह सिर्फ एक डिब्बा था। हैसियत और पारिवारिक सुख का माध्यम। शाम को सब मिल-बैठकर एक पिक्चर देखें, खाएं, सो जाएँ। डिब्बे का खेल शुरू नहीं हुआ था और डिब्बे ने भी खेलना शुरू नहीं किया था। वह एक निरापद और पालतू घरेलू आइटम था। लगता था कि वह एक सामाजिक-सांस्कृतिक पुण्य जैसा कुछ हैं.....

कि खेल बदला। डिब्बे ने बदलना शुरू किया। और देखते-देखते वह लेट-कैपीटलिज्म का 'सांस्कृतिक काउंटर' बन गया। उपभोग करने और कराने वाला। दुर्निवार और दुर्जेय। उसकी ताकत, उसकी छवियाँ 'बाइटों' में थी। छवियों की ताकत पैसे में थी। पैसा लेट-कैपीटल के उपभोग के क्षेत्रों में था और विश्वजयी था। यांत्रिक पुनरुत्पादन के युग में कलाओं के बारे में सोचते हुए वाल्टर बैंजामिन ने या 'सांस्कृतिक उद्योग' की व्याख्या करनेवाले ऐडोर्नी-होर्खीमार फ्रैंक फुर्तिए जैसे विद्वानों ने बहुत पहले इस 'पूंजी' के खेल की बानगी देख-दिखा दी थी (जबकि तब टीवी नहीं था और सिर्फ प्रिंट मीडिया, रेडियो, फिल्में थीं)। बाद में अल्युसे ने और बौद्रीआ आदि ने बता दिया कि भाइयो, खेल बदल चुका है। इसे समझने के लिए मार्क्स के बाद वाला, टीवी-बाद वाला मार्क्सवाद चाहिए। यों बहुतों ने इसे यह भी समझा कि टीवी-बाद में मार्क्स चाहिए ही नहीं। यह फिर टीवी की छलना ('सिडक्शन' के बौद्रीआ का निर्णायक पद है) थी जो कुछ भी टिकने नहीं देती थी और न देती है।

शुरू में खेल दिखता नहीं था; जितना सामने दिखता था, साहित्य के सपाट इकहरे पाठ की तरह दिखता

था। हम उसके गुण-दोष निकालते खुश थे कि धीरे-धीरे समझ बढ़ने लगी। *देखी-सुनी* लिखना शुरू किया तो पाया कि हिंदी में टीवी पर लिखना खासा घटिया काम माना जाता है और साहित्य पर लिखना महान काम। यार लोग फिल्मों पर बात करते। वे तकनीकी की दृष्टि से अनजान होते हुए भी विश्व के 'महान' फिल्मकारों की 'दृष्टि' की बारीकियों की बाबत बारीकी से सोचते, क्योंकि अंग्रेजी में वैसा सोचने वाले थे और यथार्थवादी रीडिंग सबसे आसान भी रहती थी, न उसमें फिल्म की इकोनॉमी घुसती न समाजशास्त्र घुसता। बस यथार्थ ही दिखता। वे ही लोग टीवी को धत्-धत् कहते। टीवी को वे घटिया माध्यम मानते। (यद्यपि टीवी पर अपना चेहरा दिखाने की तमन्ना में मरे जाते।) यह फिल्मी सिद्धांतिकी की अपनी समस्या (सीमा) थी जिसे टीवी के बाद ही मुक्ति मिली। फिल्म-समीक्षा को उसने अंतत: रिप्लेस कर दिया और उदरस्थ कर लिया।

तब जनसत्ता शुरू ही हुआ था और अपने मित्र मंगलेश, बनवारी उसमें काम करने लगे थे। जजसत्ता एक क्रिटिकल रैडिकल दैनिक पात्रकारिता का नमूना था जिसमें पहली बार *देखी-सुनी* स्तंभ देखा गया। जिसमें टीवी-रेडियो के बारे में कभी-कभी एकाध शरीफ-सी टिप्पणी रहती थी। यही वह वक्त भी था जब टीवी और पॉपुलर संस्कृति, फिल्में खासकर बॉक्स ऑफिस वाली फिल्में हमेशा आकर्षक दिखती और वे हमारी दैनिक चर्चाओं का विषय बनातीं। यह संभवत: पॉपुलर संस्कृति की पहली पदचाप थी जो उन दिनों सुनाई पड़ रही थी। एक विराट पीढ़ी थी जो खाली वक्त में फिल्मों और रेडियो पर चर्चा कर सकती थी। और टीवी के चित्रहार, फिल्मों, और रेडियो पर चर्चा कर सकती थी। और टीवी के चित्रहार, फिल्में, खबरें, धीरे-धीरे उनके खाने-पीने के वक्त के विमर्श बन रहे थे। जनसत्ता ने इसीलिए देखी-सुनी शुरू किया। तब यह कालम ‘‘चक्षुश्रवा’’ के नाम से कुछ दिन किसी ने लिखा, फिर कुछ दिन इसके नीचे “कर्णप्रिया” नाम भी आने लगा। कालम अभी निश्चित नहीं था। फिर एक दिन मंगलेश से भेंट हुई तो मैंने कहा कि कायदे से लिखवाओ। (मैं तब ‘दूरदर्शन के प्रभाव-संबंधी विषय पर ‘पोस्ट डॉक्टरल’ शोध के लिए अवकाश था और टीवी के बारे में अध्ययनशील था।) मंगलेश ने कहा कि क्या करें, लिखने वाले नहीं हैं। आप लिख सकें तो लिखें। बाद में ज्ञात हुआ कि 'गऊछाप' *देखी-सुनी* को गोपालाकृष्णा कौल लिखते थे जो रेडियो में नौकरी करने के बाद रिटायार हुए थे। चक्षुश्रुवा या कर्णप्रिया उन्हीं का नाम था।

बहरहाल *देखी-सुनी* लिखना शुरू किया तो समस्या आई कि किस नाम से लिखें? छद्म नाम रखा

‘अज़दक’। अज़दक बर्तोल्त ब्रेख्त के नाटक 'काकेशियन चाक सर्किल’ का ऐसा विद्रूपक पात्र है जो न्याय-अन्याय पर बेहद सटीक फैसले देता है। यह चरित्र बेहद हाशिए का चरित्र है लेकिन गजब है। इस छद्म नाम से मैं कुछेक टिप्पणियाँ लिख चुका था। यही भाया इसलिए यही आया। *देखी-सुनी* को अज़ादक लिखने लगा। तब से अब तक अज़दक ने कोई छह सौ *देखी-सुनी* तो लिखी ही होंगी। शुरू में उनका संग्रह नहीं किया; लेकिन टीवी पर एक शोधकर्त्ता ने जब *देखी-सुनी* की ‘कटिंग्स’ की अपनी फाइल दिखाई तो होश आया।

अब देखता हूँ तो हैरत होती है कि क्या-क्या कैसे-कैसे लिख मारा। लेकिन जनसत्ता वालों का जवाब नहीं! उन्होंने इस लिखे को हमेशा यथावत् छापा। लेकिन जनसत्ता वालों का जवाब नहीं! उन्होंने इस लिखे को हमेशा यथावत् छापा। कभी कोई प्रतिवाद हुआ तो वह भी छापा। जनसत्ता का यही मजा है जो आज तक बना हुआ है। इसीलिए मैंने हमेशा माना है कि यह कालम सिर्फ जनसत्ता का है, क्योंकि उसी के लिए लिखा जाता है। शुरू के दिनों में कालम जमा तो लोगों का ध्यान जाना शुरू हुआ। धीरे-धीरे लोगों को ज्ञात हुआ कि अज़दक कौन है तो फिर एक नया खेल शुरू हुआ। कुछ उसके मरीद बने तो कुछ निंदक और कुछ तो शत्रु ही बन गए। एक कवि मित्र इतने चिढ़े कि उन्होंने जमके गालियाँ सुनाईं। एक कामरेड धिक्कारने लगे कि बाजारू हो गया है। एक पुराने मित्र ने उपालंभ दिया कि क्या ठेके पर उठ गए हो? क्या सालाना कांट्रैक्ट है? यह मीडिया का साहित्य में आना था, उसके रोल का आना था। और मैं मूरख उसके बारे में पढ़ते-लिखते हुए भी इस तथ्य से बहुत दिन अनभिज्ञ रहा कि जिसके बारे में लिख रहा हूँ वही साहित्य में इस नयी मारकाट को जन्म दे रहा है और लोग अगर नाराज है तो इसलिए कि मैं कालम क्यों लिखता हूँ। बिना टीवी पर साहित्य पढ़े वे जान गए थे कि मीडिया का जल्वा क्या है और वे मुझे इससे मुक्त कर देना चाहते थे। लेकिन मेरे एकाधिक बार कहने पर भी न मंगलेश ने मुझे मुक्त किया न प्रभाष जी ने और न बाद के संपादक राहुलदेव ने, न अच्युतानंदन मिश्रजी ने। इस तरह कालम ‘जनसत्ता’ और उसके पाठकों का कालम बना। पाठकों ने ही उसे बनाया।

इस तरह *देखी-सुनी* होती गई। वह बहुतों के लिए एक पठनीय स्तंभ बना, बहुतों के लिए अप्रिय बना। बहुत-से लोगों ने उसकी फाइलें भी बनाईं। मध्यप्रदेश के एक सज्जन ने यह सूचित किया कि उनके पास *देखी-सुनी* की पूरी फाइल है। उन्होंने बताया कि वे टीवी पर शोध भी कर रहे हैं।

दूसरे अखबारों के लिए भी यह कालम आकर्षक रहा। कइयों ने चाहा कि यह साप्ताहिक टिप्पणी जनसत्ता की जगह दूसरे अखबारों में चलवाएँ। एक बार नभाटा के फीचर-एडीटर नंदनजी ने चाहा कि मैं नभाटा में लिखूँ। लेकिन मैंने वही दुहराया : यह कालम जनसत्ता के लिए ही है। और ऐसे ही रहा।

तब से अब तक बहुत पानी बह गया है। टीवी-अध्ययन भारत में बढ़े हैं। अंग्रेजी अख़बारों में नियमित कालम जारी हुए हैं और दर्जनों लोगों ने लगातार लिखा है। अमीता मलिक, अनुराधा चोपड़ा, अनिल धारकर आदि अनेक नाम हैं जिन्होंने टीवी-समीक्षा के क्षेत्र को समृद्ध ही करती हैं। अपवाद सिर्फ अनिल धारकर रहे हैं जिन्होंने टेलीविजन पर अपना कालम लिखा। प्राय: एक स्तरीय समीक्षा-कालम लिखा यद्यपि कम समय के लिए लिखा। एक बार तो अनिल धारकर ने समूचे कालम में सिर्फ 'राजीव गांधी राजीव गांधी' लिखा। पूरा कालम 'राजीव गांधी' से भरा था। एक भी कमेंट नहीं, एक भी कटाक्ष नहीं और हजार शब्दों में हजार बार सिर्फ राजीव गांधी। सच! यह एक अद्भुत 'पीस' था।

'अज़दाक' ने 'देखते-देखते' सीखा और सीखते-सीखते 'देखा'। सीखना आज भी ज़रूरी है। देखना ही सीखना हो गया है।

टीवी समीक्षा सिर्फ यूँ ही समीक्षा नहीं है। वह एक बेहद सामाजिक और जिम्मेदार विमर्श बना सकता है। टीवी के विमर्श पर इतना भरोसा न होता तो टीवी की समीक्षा कभी की खत्म हो गई होती। इस अर्थ में छीवी समीक्षा को यानी साहित्यिक समीक्षा-कर्म को सीमित और डिसरप्ट करता है क्योंकि वह अर्थ के क्षेत्र को अर्थ के साथ-साथ उपभोग के क्षेत्र में भी धकेल देता है। यदि यह जागरूकता न हो, यदि टीवी के विमर्श का सजग आकलन न हो तो टीवी-समीक्षा सिनिकल हो सकती है, विवरणात्मक, सूचनात्मक हो सकती है यानी उसकी शिकार ही हो सकती है। चूँकि टीवी 'पैराडाइम' को ही बदलने वाला उत्तर-आधुनिक माध्यम है इसलिए उसके अध्ययन अत्यधिक जटिल और जोखिम-भरे हैं।

दरअसल टीवी एक बेहद अर्थवान् और गंभीर माध्यम है जिसे ज्यादातर लोग इसलिए अगंभीरता से लेते हैं क्योंकि वह हमेशा ही एक 'हाइपर रीयल', 'अगंभीर' को बनाता है और उसे उपभोग के लिए उकसाता है जबकि ऐसा करके वह एक बेहद गंभीर काम कर रहा होता है : यह काम है जनता को दर्शक में बदलने का और फिर इस

बनाए दर्शक को बाजार की चालक शक्तियों के हाथों बेचने का। यह इसकी दोहरी इकोनॉमी है जो निरंतर सक्रिय रहती है। जो माध्यम जनता का तत्काल रूपांतरण कर दे, जो उसको नए ढंग से अनुकूलित और संस्कारित करता हो और करता दिखता हो, उस माध्यम को अत्यधिक गंभीरता से लिया जाना चाहिए और अध्ययन का विषय बनाया जाना चाहिए। खासकर हमारे जैसे देश-समाज में जहाँ टीवी की दोहरी अर्थव्यवस्था इस कदर सक्रिय हो कि देश की आधी जनता को दर्शक बनाकर विविध प्रायोजकों के हाथों उपभोक्ता-रूप में बेच चुकी हो।

लेकिन हिंदी के साहित्यवाद के बलिहारी जाइए कि घनघोर प्रगतिवादी और प्रतिक्रियावादी किस्म के लोग टीवी से गुप्त प्यार और प्रकट घृणा का खेल खेलते हुए, साहित्य के उस क्षेत्र को बचाने की नकली मुद्रा ओढ़ने का नाटक अक्सर करते हैं जिसे टीवी रोज कम कर रहा है। नए माध्यम के बाद किसी भी भविष्यवादी विमर्श के लिए अक्षम कोरा साहित्यवाद उस क्षेत्र को रिक्लेम नहीं कर पा रहा और न कर पाएगा, क्योंकि टीवी के बाद साहित्य के वातावरण को भी टीवी ही निर्धारित कर रहा है। किसी भी तरह के भविष्यवादी विचार से रहित साहित्यवाद टीवी का अंतत: अच्छा या बुरा उपभोग-भर है, क्योंकि अब कोई भी साहित्य एक 'पॉपुलर कल्चर' का नया रूप-भर है। लोकप्रिय संस्कृति के इस निर्णायक माध्यम को सिर्फ माध्यम के रूप में पढ़ना भी पर्याप्त नहीं लगता।

इस तरह टीवी न केवल नए अर्थशास्त्र की संरचना करता है, बल्कि समाज के विविध स्तरों की एक नई मिश्रित संरचना भी करता है। पाटा फेरकर वह सबको यकसाँ करता है और यकसाँ करते हुए भी वह स्थानीय वैशिष्ट्य को भी जगाता है। एक ही साथ वह जीवन को शामिल और खारिज करता है। इसीलिए उसके अध्ययन की विभिन्न प्रविधियों और सिद्धांतिकियों को जाने-समझे बिना उसका सदुपयोग भी संभव नहीं है। जो लोग कहते हैं कि टीवी को तभी बदला जा सकता है जब सत्ता बदल दी जाए उनके पास सत्ता बदलने से पहले दरमियानी दौर की समझ तो होती ही नहीं, गलतफहमी अतिरिक्त होती है कि एक दिन सत्ता का चरित्र बदल जाएगा तो टीवी का चरित्र भी बदल जाएगा। जो लोग टीवी की दोहरी अर्थव्यवस्था को जानते हैं, वे इस विकल्प की सीमाएँ भी जानते हैं।

इस तरह टीवी को 'पढ़ना' ही विकल्प है। उसका विखंडन ही विकल्प है। वही 'उपभोग' बनाता है और

उसके दोहरे उपभोग के जकड़जाल से मुक्ति के क्षण जुटाता है। उसके अध्ययन की शुरुआत मूलत: और प्रथमत: 'पॉपुलर कल्चर' के अध्ययन से शुरू होती है। कदाचित् इसीलिए जामिया मिलिया इस्लामिया स्थित 'मास कम्यूनिकेशन केंद्र' ने अब टीवी-ट्रेनिंग के साथ पॉपुलर संस्कृति को भी अपना पाठ्यक्रम बनाया है। ऐसा ही विदेशों में है : 'पॉपुलर कल्चर' में ही टीवी की समझ निहित है।

टीवी को देखने-पढ़ने के हिंदी में खासे अवरोध रहे हैं जिनमें से एक साहित्यवादी यथार्थवादी किस्म की समीक्षा-दृष्टि है। यह समीक्षा-दृष्टि अनुभव को (कर्ता के अनुभव को) और यथार्थ (जो कर्ता से बाहर है) को अलग मानकर, समांतर मानकर एक ही सामाजिक प्रक्रिया का अंग मानती है। यहीं उसमें वर्चस्व बनता है जो वर्चस्वकारी-वर्ग का होता है। टीवी-पूर्व के परंपरागत समीक्षा-शास्त्र में संस्कृति के अध्ययनों में सारा संघर्ष 'अर्थ' (मीनिंग) में होता हुआ माना जाता है, यानी अर्थ को कौन नियंत्रित करता है? अर्थ के ऐसे 'निश्चय' में प्राय: यह मानकर चला जाता है कि वर्चस्वकारी-वर्ग संस्कृति में अपने अर्थों का स्वाभाविकीकरण (नेचुरलाइजेशन) करता चलता है। वह अपनी विचारधारा को सबकी बनाकर चलता है। पॉपुलर कल्चर में यही संघर्ष होता है। मसलन स्त्री-विमर्श यही करता है। वह उसी पॉपुलर में अपने अर्थ से डिसरप्शन पैदा करता है। लेकिन यहाँ 'कल्चर' और विचारधारा एक नहीं रहतीं। यही मार्क्सवादी चिंतन के बाद की उत्तर-मार्क्सवादी शिफ्ट है जो फ्रैंकफर्ट स्कूल से होती अल्थुसे, जॉन फिस्को तक पहुँचती है। टीवी के पाठ को समझने के लिए, 'पॉपुलर' को समझने के लिए यह उपयोगी है।

यहाँ से टीवी के सांस्कृतिक अध्ययनों की शुरुआत होती है। पॉपुलर कल्चर के मार्क्सवादी चिंतक जॉन फिस्के ने ब्रिटिश टीवी और पॉपुलर कल्चर को पढ़ते हुए कहा है कि सांस्कृतिक अध्ययनों में 'विचारधारा' को पुराने ढंग के मार्क्सवादी अर्थों में 'मिथ्या चेतना' के रूप में नहीं लिया जाता, क्योंकि यह अवधारणा मानकर चलती है कि 'सच्ची चेतना' संभव है और वह तब संभव है जब सर्वहारा की सत्ता सारी धरती पर होगी। मार्क्स की यह अवधारणा यद्यपि आज भी मोहक है, लेकिन लेट कैपीटलिज्म के इन दिनों में पूँजीवाद ने अपने अंतर्विरोधों के साथ जिस तरह जीना सीख लिया है, जिस तरह वह अंतविरोधों को लगातार बदलता, स्वयं को पुनर्जीवित करता रहता है और जिस तरह उसने अपने प्रतिरोध की ताकतों को अपने भीतर शामिल किया है, उसे

देख लगता है कि मार्क्स का सपना अभी तो सपना ही है। उस सपने को सपना न मानकर 'यथार्थ' मान लेने पर 'संस्कृति' में विचार की भूमिका को समझना कठिन हो जाता है और दरमियानी नीति नहीं बन पाती। हम या तो इस सब पॉपुलर संस्कृति और 'टीवी' को कंडेम कर सकते हैं या फिर शिकार हो सकते हैं। दरमियानी दौर की द्वंद्वात्मक समझ उससे नहीं बनती।

इस संदर्भ में ग्रामशी और अल्थुसे ने पर्याप्त विचार किया है जिससे हमें पॉपुलर कल्चर को समझने में मदद मिलती है। अल्थुसे के अनुसार विचारधारा विचारों का स्थिर ढाँचा नहीं है जिसे वर्चस्वकारी-वर्ग पर यूँ ही लाद दिया करते हैं, बल्कि वह एक 'गतिशील प्रक्रिया' है जो स्वयं को लगातार पुनरुत्पादित करती रहती है और व्यवहार में रोज बनती रहती है। समाज में वह एक जीवित दैनिक प्रक्रिया है। इस तरह 'आधार' और 'अधिरचना' में सीधा संबंध नहीं होता। आर्थिक संरचना-अनिवार्यता समूची सांस्कृतिक संरचना को 'तै' नहीं करती। अल्थुसे 'आधार अधिरचना' वाले सिद्धांत को 'अति निश्चितीकरण' (ओवर डिटर्मिनेशन) के सिद्धांत में बदल देते हैं। इस अवधारणा के जरिए अधिरचना न केवल आधार को प्रभावित करती देखी जा सकती है बल्कि वह विचारधारा तथा संस्कृति के संबंधों का ऐसा मॉडल संभव करती है जो सिर्फ आर्थिक आधार से निश्चित नहीं होता।

इस अवधारणा में इस तरह संस्कृति के अध्ययन के लिए परिवार, सामाजिक संस्थान, शिक्षा, भाषा, मीडिया, राजनीतिक ढाँचा इत्यादि सब बराबर के तत्वों की तरह नजर आते हैं। ये संस्थान लोगों को संस्कार देते हैं, जीवन-शैली देते हैं। जीवन-शैली में संस्कृति 'स्वाभाविक' बन उठती है जिसमें विचारधारा और संस्कृति अंतर्मुक्त और अविभाज्य हो जाती है, यानी सभ्यता बन जाती है। अल्थुसे की सिद्धांतिकी बहुत दूर तक संस्थानों की 'स्वायत्तत्ता' को मानते हुए भी मिश्रित मानती हैं। यह चीज ही उसे 'अति-निश्चितीकरण' की प्रक्रिया बनाती है। एक ही जीवन-शैली में, एक ही अनुभव में कई-कई प्रक्रियाएँ एक साथ घटती हैं और इस कदर घटती हैं कि हम उन्हें अलग-अलग स्वायत्त विशिष्ट रूप में सक्रिय नहीं देख पा सकते। 'पॉपुलर कल्चर' के ज्यादातर चालू अध्ययन और टिप्पणी आदि इस अनिश्चितीकरण को नहीं देख माते और सरलीकरणों में ढल जाते हैं सरलीकरण स्वयं एक पॉपुलर कल्चर ही है।

टीवी के अध्ययनों में इस तथ्य तथा सिद्धांतिकियों ने बड़ी भूमिका अदा की है। मैक्लूहान से लेकर फिस्के

तक के अध्ययन बताते हैं कि टीवी को पढ़ना वैसा आसान नहीं है जैसा कि हम 'देखना' समझते हैं। उसे देखते हुए हम कितना देखते हैं वह हमें कितना 'देखता' है, किस तरह वह अपने दर्शकों के साथ सचमुच ही 'अनिश्चतीकरण' की प्रक्रिया स्थापित करता है, किस तरह वह अर्थ और छवियों के सर्प्लस को बनाता है, किस तरह वह अपने शून्य, खाली स्थान बनाता है, किस तरह वह 'अस्थिर अर्थ' और संदर्भ के क्षणिक प्रसंग देता व नष्ट करता है, इसे तथा 'दर्शन' की अन्य जटिलताओं को जाने-समझे बिना हम टीवी को कायदे से पढ़ भी नहीं सकते हैं, लेकिन उसमें लगातार बदलते अर्थ-निश्चय को प्राय: कठिन बनाते चलते हैं। अभी देखी गई एक छवि जो अर्थ दे रही है, वही अपने अर्थ को क्षणमात्र में बदलकर अर्थ बदल लेती है। वह हर आँख के लिए अलग अर्थ रखने लगती हैं।

भारत का 'रस' और रस-संप्रदाय का साधारणीकरण, साधारण में 'तादात्म्य' वाला तत्व टीवी के दर्शन में बहुत न्यून स्तर तक ही मददगार हो माता है। टीवी के 'तादात्म्य' में और साधारणीकरण में 'अर्थ-बाहुल्य' और अर्थ की अनेकांतता, अर्थ की अनिश्चितता बनती है, इसीलिए टीवी की टैक्स्ट को 'फिक्स' करना उसे पढ़ने की पूर्व-शर्त है। यही टीवी का उत्तर-आधुनिक तत्व है कि हमेशा एक चंचल यर्थाथ में, हाइपर रीयल में रहने वाले इसीलिए उसे दुर्निवार माध्यम मानते हैं क्योंकि 'हाइपर रीयल' का छलना लुभाती रहती है, यही उसकी माया है, प्रपंच है, फिर उसकी विधाओं के अपने प्रपंच के अपने प्रपंच हैं।

टीवी पर हुए अध्ययनों को पढ़ना, 'पॉपुलर संस्कृति' को पढ़ना उतना आसान काम नहीं है जितना कि लोगों ने समझा है। उसे पढ़ना, उसकी संरचना को समझना उसमें सक्रिय शक्तियों को पकड़ना, उसकी छवियों के स्वरों के 'बाइट' पकड़ना, उसकी टीवी को पढ़ना ही एक चुनौती है। फिर प्रभाव को पढ़ना, दर्शकों के व्यवहार को पढ़ना, उसकी नेटवर्किंग को पढ़ना बेहद कठिन कार्य है। जाहिर है कि अब तक उपलब्ध समीक्षा-पद्धतियाँ उसके लिए लगातार नाकामी ठहराती हैं।

विश्व में टीवी को पढ़ने की जो चार-पाँच प्रविधियाँ प्रचलित है उनमें सर्वाधिक स्वीकृत विधि 'चिह्न विज्ञानवादी' (सीमियोटिक्स) और संरचनावादी है जबकि मार्कपोस्टर, फ्रेडरिक जेमेसन इत्यादि ने उसके विखंडन के द्वार खोले हैं। स्त्रीत्ववादी टीवी-अध्ययनों में प्राय: विखंडनवादी पद्धतियाँ काफी सफल दिखती है। यह तथ्य

टीवी को उत्तर-आधुनिक विषय तो सिद्ध करता ही है, वह इस उत्तर-आधुनिक को पढ़ने का एक जरिया भी देता है। यहाँ एकसाथ पाठीयता, अर्थ-निश्चयन और तकनीकी-आर्थिक संदर्भों को पढ़ा जाता है। यह सिनेमा के अध्ययनों से भिन्न अध्ययन है। जिम कॉलिंस ने इसीलिए कहा है कि 'टीवी अध्ययन' किसी भी आधुनिकता की तरह टीवी भी परिभाषाओं से हर बार परे रहता है। उसकी कोई भी एक परिभाषा अपूर्ण है।

टीवी सूचना माध्यम है, मनोरंजन का माध्यम है, वह चिह्नों का, चिह्नों की अतिथों का माध्यम है। कुछ लोग मानते हैं कि टभ्वी 'नॉनसैंस' का माध्यम है, 'ईडियट बॉक्स' है जो 'अर्थ' को 'व्यर्थ' करता है। एलेन ब्लूम इस वजह से टीवी को 'संहारक' मानते हैं।

ऐसे लोग समझते हैं कि टीवी 'एकार्थ' वाला माध्यम है क्योंकि वे मानते हैं कि उसकी छवियों का 'संहतिकरण' और 'विसंहितिकरण' (एन्कोडिंग और डिकोडिंग) 'एकार्थवादी' है, उसमें सब-कुछ पहले से 'तै' होता है। यह आधुनिकतावादी समीक्षा-दृष्टि है जो 'एकार्थवाद' की जननी स्वयं है और इसीलिए टीवी को खतरनाक मानती है। यही उत्तर-आधुनिकता आकर 'अनेकार्थ', 'बहुलार्थ', और अनेकांत संभव करती है और टीवी के अध्ययन 'अतिनिश्चितीकरण' की 'अनिर्वचनीय' और 'अनिश्चित' संभावनाओं को खोलते हैं।

टीवी मूलत: 'अतीत का वर्तमान' और निरंतर वर्तमान है। जो 'कथित' है उसी को वह कहता है, क्योंकि टीवी की भाषा में जो कथित था, वह अभी भी लगातार 'कहा जा रहा है' माना जाता है। इसीलिए वह लगातार पुनरुत्पादन करता है, हर चीज को अपने उदर में डाल लेता है। यह स्थिति स्थिर, अचंचल, धीरे-धीरे बदलने वाले समाज और साहित्यों को हिला देती है। उसके तमाम ढाँचे तोड़ देती है। साहित्यकारों में टीवी को लेकर बढ़ती धिक्कारवादी बेचैनी प्रमाण है कि वह उनके औजारों को व्यर्थ कर रहा है। लेकिन वह साहित्य को 'पॉपुलर कल्चर' में पुनरुत्पादित करके, बड़े पैमाने पर प्रसार करके उसे 'मास कल्चर' बनाता है, साहित्य को समाज तक पहुँचाता है। आधुनिकतावादी सोच टीवी को इस तरह से नहीं पढ़ने देता; उत्तर-आधुनिक पढ़ने देता है। वह लगातार अंत:पाठ में रहता है, साहित्यपाठ में रहता है। इसलिए भी वह साहित्य को अपने अंत:पाठ में डालता है। साहित्यकार यदि उस पर बरसते हैं तो इसीलिए कि वे स्वयं को अपने पाठ का स्वामी समझे बैठे थे कि टीवी ने आकर उनके 'पाठ' को बाजार का पाठ बना दिया, उनसे स्वतंत्र कर दिया। हिंदी के लेखक टीवी को लेकर पाखंड

और दो-चित्तेपन के शिकार हैं और उसके प्रति बच्चों की-सी अवसरवादी दृष्टि अपनाते हैं। उन्हें दूरदर्शन पर स्वयं अपना चेहरा दिखाना भाता है, लेकिन अपने से मुक्ता दूरदर्शन नहीं भाता। माध्यम उनके लिए रहे तो भला, दूसरे का हो तो बुरा। यह माध्यम कमबख्त एक कार्पोरेट लेट कैपीटलिज्म का, बाजार का माध्यम है, इसलिए और भी पराया लगता है। लेकिन टीवी ने साहित्य की सारी छद्म आधुनिक अकड़ ढीली कर दी है।

टीवी को देखते हुए सबसे बड़ी समस्या उसके विषय और कर्त्ता (नाम की, कथा, चित्र) का अर्थ-निर्धारण ही है। देखते ही यह होना शुरू हो जाता है। यहीं से 'तादात्म्य' का अध्ययन शुरू हो जाता है, यहीं से सांस्कृतिक निश्चितीकरण का अध्ययन शुरू हो जाता है। विषय या कर्त्ता से तादात्म्य स्थापित हो तो हम प्राय: अर्थ निश्चय कर सकते हैं किंतु यदि दृश्य में आने वाली छवि का 'कर्तृत्व' (अर्थनिर्माण की क्षमता जो नायक की होती है) इकहरा, एक सीधे वृत्तांत में रहे, तो भी संदर्भ-निश्चय और अर्थ-निश्चय में मदद मिलती है और हम 'कर्त्ता' के होने का निश्चय कर 'एकार्थ' निश्चय कर सकते हैं। लेकिन सीरियल, फिल्म, क्रिकेट प्रसारण, चुनाव प्रसारण, बजट प्रसारण के बीच में अनंत विज्ञापनों के प्रसारण मैं 'कौन-सा कर्त्ता कहाँ' है? यहाँ कर्त्ता हर बार बदलता है, अपनी जगह छोड़ता है। इस 'हाइपर रीयल' की अंतःपाठीयता को पढ़ना, पकड़ना मूलत: उत्तर-आधुनिक विमर्श से संभव है जहाँ कर्त्ता को 'इकहरा' न मानकर 'अतिनिश्चित' इसलिए अत्यंत 'मिश्रित' कर्त्ता माना जाता है, जो लगातार चंचल, अस्थिर और मिश्रित है। 'श्रीकृष्ण' सीरियल के कृष्ण भागवत के 'अमिश्र' कृष्ण नहीं बल्कि विज्ञापन-पालित, मिश्र कृष्ण हैं। यही हालत राम की है। इस तरह टीवी के 'अति पाठ' में हर चीज अपनी मूल 'पवित्र अर्थात्मकता' त्यागकर 'मिश्र' बन जाती है। टीवी-सिद्धांतकार चांते मुफे के अनुसार टीवी के कर्त्ता (विषयवस्तु) के निर्धारण में निहित जटिलताओं को पढ़ने का काम सिर्फ यह नहीं है कि वह 'एक केंद्रित अर्थवत्ता' (एकार्थवादी) के निश्चयवाद से बाहर चलता है, बल्कि इसलिए भी है कि उसके लिए एक निश्चित केंद्रवादी कर्त्ता का अस्तित्व ही-नहीं होता। मुफे का कहना है कि हम हमेशा बहुल और अंतर्विरोधी कर्त्ताओं, विषयवस्तुओं को एक 'मिश्र' क्रम में पाते हैं और वह भी बहुत क्षणिक स्थितियों में। जिम कॉलिन्स का मानना है कि 'तत्त्ववाद-विरोधी' (एंटी एशैशियलिस्ट) या उत्तर-आधुनिक स्त्रीत्ववादी बहसों ने इस तत्त्व को रेखांकित करने में मदद दी है।

कर्त्ता का अंतर्विरोधी और बहुलार्थी रूप टीवी ने ही संभव किया है। इसीलिए 'पॉपुलर कल्चर' के प्रभावों

के अध्ययन का तरीका भी बदला है। इसी चीज ने मीडिया की 'हाइपोडर्मिक सिद्धांतिकी' (कि टीवी लोगों को अपसंस्कृति देता है) को जॉन फिल्थे, इयन स्टैंग इत्यादि मार्क्सवादी चिंतकों ने चुनौती दी है और पॉपुलर संस्कृति में प्रतिरोध के तत्त्वों को रेखांकित किया है। जेमेसन ने तो उपभोक्तावाद के प्रभाव पर अध्ययन करके इस तत्त्व को रेखांकित किया है।

टीवी-अध्ययनों की एक बड़ी आंतरिक समस्या यह है कि चिह्नविज्ञान और राजनीतिक अर्थशास्त्रवादी पद्धतियों को एकसाथ कैसे मिलाया जाए? चिह्नविज्ञान कहता है कि टीवी को 'एक तर्क', 'एक अर्थवादी' के रूप में न देखा जाए। अर्थशास्त्र कहता है कि उसका एक निर्णायक मास्टर सिस्टम है। टीवी की तत्त्ववाद-विरोधी, आधार-विरोधी (एंटी फाउँडेशनलिस्ट) प्रवृति उसे उत्तर-आधुनिक माध्यम बनाती है और उसका लेट कैपीटलिस्ट 'मोड' उसे उत्तर-आधुनिक आधार से जोड़ता है, किंतु उसका 'अर्थ-क्षय' और अनंतता की शक्ति उसे 'अनिश्चित' या 'अतिनिश्चित' बनाती है। जाहिर है कि टीवी की सिद्धांतिकी टीवी के नित-नए उस रूप से जूझ रही है जो किसी भी सिद्धांतिकी में बँधने से इंकार करता है।

ऑब्जर्वर के टीवी-समीक्षक क्लाइव जेम्स ने 'व्हाट इज़ ए टेलीविजन क्रिटिक' नामक टिप्पणी में एक जगह लिखा है : 'टेलीविजन-समीक्षा की खास बात यह है कि वह अतीत को संदर्भित नहीं कर सकती। वह समीक्षा जो इस माध्यम की बहुस्तरीयता, बहुलार्थता और क्षणभंगुरता को नहीं समझती, एक झूठी समीक्षा ही हैं....टेलीविजन एक ही क्षण में, एक खिड़की में हजारों चीजों के घटने का नाम है। ऐसी उपद्रवकारी स्थिति के समीक्षक को क्या कहा जाए, कहना कठिन है। इतना ही काफी है कि भक्त या संत नहीं ही हो सकता।'

तो हे पाठकर्त्ता! टीवी को देखते हुए जो *देखी-सुनी* लिखी, वह भक्ति-मार्गी या संतमार्गी विमर्श नहीं ही है क्योंकि वह वैसा हो ही नहीं सकता था। यही देखी-सुनी का चक्का भी था और है, यही उसका जोखिम था और है।

टीवी-समीक्षा में जोखिम भी हो सकते हैं। यों बड़े भारी जोखिम अभी तो दिखे नहीं, लेकिन इस कर्म के जोखिम मजेदार हैं।

एक बार एक सेठ ने एक साहित्यिक सीरियल 'अमृता' बनाया जिसमें उन्होंने प्रसाद और पंत की

कविताओं को बेहद बेहूदा ढंग से दिखाया। जब इस कालम में उसकी आलोचना हुई तो वे सज्जन जनसत्ता के एक उप-संपादक के पास पहुँचे। वहाँ उन्होंने 'अज़दक' को खरी-खोटी सुनाई और मिलना चाहा। तब जनसत्ता। में कार्य कर रहे सुरेश शर्मा ने बताया था कि वह आदमी वाकई हमलावर की मुद्रा में आया था। उसके पास ब्रीफकेस था। सोने, हीरे से लदा हुआ था वह साहित्य-टीवी। इसी तरह साहित्य-संबंधी कार्यक्रमों की समीक्षा ने भी ऐसे साहित्य-यश: प्रार्थी, कवियों कथाकारों को कभी-कभी ब्लैकमेल की भूमिका में उतरने, रात-बिरात फोन करने, बच्चों से गंदी, अश्लील भाषा बोलने और देख लेने की भी पेशकश की है। इनमें कई लोग दूरदर्शन-कर्मी भी रहे हैं।

ऐसे अनेक छोटे-मोटे तनाव अक्सर बने हैं, लेकिन जनसत्ता के पूर्व-संपादक प्रभाष जोशी, बनवारी, राहुलदेव और वर्तमान संपादक अक्षतानंदन मिश्र का मैं ऋणी हूँ कि उन्होंने हमेशा अपने कालम का साथ दिया है। यदि मतभेद आया तो प्रकाशित किया, किंतु कालम पर कोई दबाव नहीं डाला। शायद इसी अभय में वह कालम बना; जिसे दूरदर्शन तथा अन्य चैनलवाले कुछ गंभीरता से लेने लगे यद्यपि वह लिखा हमेशा ही एक अगंभीर व्यक्ति के द्वारा गया। टीवी पर लिखते हुए कोई गंभीर रह सकता है, इसमें शक है।

टीवी के सब कार्यक्रम न कोई देख सकता है, न उन पर लिख सकता है। हर बार चुनाव करना पड़ता है। समीक्षा के योग्य कार्यक्रम चुनने के कुछ आधार रहे हैं। प्राय: वही कार्यक्रम चुना गया जो कोई 'संचार' या 'संवाद' यानी कम्युनिकेशन बनाता हो, अर्थ (मीनिंग) बनाता हो और प्रमुख समय पर हो। इसमें बड़े-छोटे कार्यक्रम शामिल रहे। विवादास्पद कार्यक्रम सब संयोगवश इसी आधार पर आते रहे। ध्यान वे खींचते जो उत्तेजक होते, यानी जो तीखी प्रतिक्रिया पैदा करते। इनमें खबरें, सामाजिक, साहित्यिक कार्यक्रम आते हैं। चयन का दूसरा आधार रहा उनका मनोरंजक होना। पॉपुलर संस्कृति को पढ़ने के लिए यह जरूरी था। उनमें फिल्में सीरियल, विज्ञापन आते हैं।

टीवी को पढ़ना एक तरकीब की तरह धीरे-धीरे हो गया। यह तरकीब किताबों ने कम, टीवी ने स्वयं ही सिखाई। तत्काल प्रतिकिया पैदा करने की क्षमता, संदर्भ-रहित हो जाने की विशेषता और लेट कैपीटलिज्म के उपभोग और उपभोक्तावाद को खोलने वाले एक सुपर मार्केट बन जाने की स्थिति ने टीवी को जो रूप दे दिया

उसमें उसके कर्त्ता, विषयवस्तु और भाषा को पकड़ने तथा उसकी समीक्षा करने के लिए वह भाषा नितांत अपर्याप्त दिखी जिसमें साहित्यिक समीक्षा पली-बढ़ी थी। धीरे-धीरे एक ऐसी भाषा ने जन्म लिया जो इस लेखक के लिए भी अविश्वसनीय थी। यह भाषा टीवी ने 'फोर्स' की थी।

एक या दो शब्द पूरे वाक्य की तरह आते, दिमाग में कौंधते ताकि जो छवि गुजर गई है उसका प्रमुख अर्थ (यदि सभी नहीं तो) पकड़ा जा सके और सप्ताह-भर बाद पढ़ने वाले पाठक (दर्शक) को वह सब याद आ जाए और एक बार फिर वह उस छवि से संवाद बनाए जो अन्यथा उसके लिए मर चुकी थी। इस तरह ऐसे शब्द चुने जाते जो गत प्रतिक्रिया को, न केवल पुनरुत्पादित को बल्कि लगभग वही प्रतिकिया पैदा कराएँ जो छवि के वक्त हुई होगी और फिर उस पर एक क्रिटिकल टिप्पणी को जगाए उससे सहमति या असहमति को जगाए। जाहिर है कि यह किंचित् चिह्न-विज्ञानी और किंचित् प्रभाव-विज्ञानी तरीका था जो लिखने में अपनाया गया। सारी कोशिश यही रही है कि टीवी के कार्यक्रमों को उनका संदर्भ मिले, 'विसंहतिकरण' डिकोडिंग हो।

टीवी देखते हुए इस लेखक ने हमेशा नोट्स लिये, लिखे। बहुत सारी कापियों में इसके दर्शन का इतिहास बंद है। देखते हुए और संग लिखते हुए हमेशा ही एक नया अनुभव होता। जितनी देर में कुछ लिखता, टिप्पणी करता, दृश्य निकल जाता। उसके अच्छे लगने, बुरे लगने की राय बनते-बनते चीजें बदल जातीं। सो भाषा में लाघव लाना पड़ा। सटीक शब्द-संधान करने को विवश होना पड़ा। बहुत-सी चीजों को एक नाम देना-यह एक कठिन कार्य रहा, किंतु यही करना पड़ा।

बहुत-से अनर्गल को एक अर्गला में टाँगने का काम हिंदी भाषा के उस अंतर्निहित व्यंग्य और व्यंजना-शक्ति ने किया जो टीवी देखने की प्रक्रिया में ही जगी। अनर्गल को अर्थ देने, अर्गला देने का काम हिंदी के इसी जातीय तत्त्व 'हास्य' ने संभव किया, अन्यथा हजार बारह-सी शब्दों में एकाध बात भी कायदे से लिखने की आदत तब तक नहीं थी। शब्द-लाघव यहीं सधा।

शायद इसी ने 'देखी सुनी' के पाठक बनाए होंगे। एक तीखी भिड़ंत, तीखी आलोचनात्मकता, सूचनात्मकता, साथ ही इस अनर्गल में हँसने की जगह बनाना। शायद ऐसे ही रहा हो। यह एक विचित्र गद्य बन चला। एकदम हाइपर रीयल।

ये टिप्पणियाँ लिखी नियमित गईं लेकिन संकलित करने योग्य नहीं समझी गईं, इसीलिए बहुत-सी अखबार में से नहीं निकाली गईं। अब जब अजयकुमार ने चाहा कि एक किताब इनकी बनाई जाए तो बड़ी समस्या हुई। टीवी-संबंधी निजी कटिंग-भंडार में महीनों घुसाव रहा, तब जाने कोई पाँच सौ या साढ़े पाँच सौ टिप्पणियाँ मिलीं। उन्हें क्रमिक किया तो ज्ञात हुआ कि यह लेखक टीवी के रोजनामचे ही लिखता रहा है। वे सब छपे तो ढाई-तीन हजार पृष्ठ का ग्रंथ बने। उसमें देश, समाज और टीवी के पिछले बारह वर्षों का आत्यंतिक एवं मौलिक इतिहास बनता है। लेकिन तै पाया कि फिलहाल ऐसी ही एक नमूना-पुस्तक तैयार की जाए जैसी ऑब्जर्वर के टीवी-क्रिटिक क्लाइव जेम्स और जोनाथन ने की है जिनके नाम हैं, 'द क्रिस्टल बकेट' और 'विजंस लिकर मिडनाइट'।

किताब की सोचना आसान था, किताब बनना कठिन था। कोई पाँच या साढ़े पाँच सौ टिप्पणियों में से क्या दिया जाए क्या छोड़ा जाए कि एक प्रतिनिधि किस्म की किताब बने? बहुत उधेड़बुन के बाद सोचा कि हर वर्ष की कुछ ऐसी टिप्पणियाँ ली जाएँ जिन्हें पढ़कर पाठकर्त्ता टीवी एवं दूरदर्शन के बदलते चेहरे एवं अपने समाज के चेहरे को पहचान सकें।

एकदम अति चंचल 'हाइपर रीयल' को अर्थ देना, उसे उसकी अनंत चंचल अंतःपाठीयता में पकड़ने की विदूषक-कोशिश में ही अपने टीवी-समय को समझा जा सकता है। शायद यहीं कहीं से टीवी की पढ़ने की कोई संभव और सटीक तरकीब निकल सकती है। एक टीवी-सचेत समाज बनाने के लिए ये कुछ 'देखी सुनियाँ' मददगार हों, इस उम्मीद के साथ-

सुधीश पचौरी

यानी

देखी-सुनी का 'अज़दक'

अनुक्रम

किस्सा शांति का!	25
टीवी वालों ने की टीवी पर बहस	28
तात्कालिक है हर चीज	31
पहली बार कविता की तस्वीर	35
अपनी ही छवि से शिकायत	39
सिर्फ सीरियल नहीं था 'बुनियाद'	42
'अमृता' में मरता हुआ साहित्य	46
'कोई कवि बन जाए सहज संभाव्य है'	49
सिर्फ तीन सैकंड तक एक सूचना	52
शहर पर उड़ती चीलें	55
खंभा और खिसियानी बिल्ली	58
उस औरत का जलता बयान	62
उस मामूली भारतीय का अपहरण	66
राजा का बाजा और मंडल राग	69
कहि न जाइ का कहिए	71
अकेला दर्शक	75
अब सिर्फ हथियार बोलेंगे	79
और तुमने मार डाले लोग	82
ब्रेव न्यू इंडिया	85

उत्तर-आधुनिकता : एक स्थिति	88
आदि कवि ककादि	91
सफारी टाई टोपी की कविता	95
तब देख बहारें होली की	99
काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी?	102
यप्पी का डिजाइनर-प्रेम	106
गीतं गायंति गर्दभा:	109
छह दिन का हिंदू-वृत्तांत	113
विखंडन की भाषा में अयोध्या	118
हंगामा-ए-हांगकांग	122
बाजार की वर्तनी	126
क्रीड़ा-पर्वत	130
फीड बैक	134
तू तू तू तारा	138
एक हमला प्रसन्न	142
कुट्टनीमतम्	145
समीक्षा को अपदस्थ करते हुए	149
तिरानवे में गाना हो गया बड़बड़ाना	152
परचूनिए की हिंदी	155
तेरा क्या होगा हिंदी साहित्य?	158
हिंसा का साधारणीकरण	162
घन-घन अंतर दामिनी	165

तर्क विदा ले चुके हैं	168
अज्ञात यौवना हठात् नाची	172
सदी का सबसे बड़ा कथाकार	176
कहाँ हो चंद्रकांता?	180
बिक रही है हँसी	183
नए दुकानदारों का चैनल है मेट्रो	187
श्रृंगार रौद्र वीभत्स भयानक	190
इक्कीसवीं सदी के बच्चे	194
बहुराष्ट्रीय संचार का हाल	198
कल से आज तक	201
सूरज और उसके जूते	204
फिरंगी चैनल	207
कैमरा खतरनाक है	210
स्लोमोशन में खाओ और खाने दो	213
छलाँग	217
पारदर्शी जनतंत्र	220
हाई फाई कल्चर	224
ग्लोबल गीत सोदाहरण	228
फ्री शॉपिंग	232
चैनल सात और देरिदा	236
जनतंत्र की नई दीक्षा	239
क्योंकि खबरें अभी और भी हैं	242

पैंतीस सौ करोड़ के तर्क 245

देह की दुकान 248

ऑन हर मैजेस्टी'ज, सर्विस 252

सौतन का शो 255

स्वायत्तता और चापलूस लोग 259

मकारीना 262